RNI No. 26281/74 रजि. नं. पी.बी./जे.एल.-011/2021-23

साप्ताहिक

आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

वर्षः 50, अंक : 14 एक प्रति : 2 रुपये
कुल पृष्ठ : 8
रविवार 2 जुलाई, 2023
विक्रमी सम्वत् 2080, सृष्टि सम्वत् 1960853124
दयानन्दाब्द : 199 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये
आजीवन शुल्क : 1000 रुपये
दूरभाष : 0181-2292926, 5062726
E-mail: apspunjab2010@gmail.com,
www.aryapratinidhisabha.org

वर्ष-50, अंक : 14, 30 जून-2 जुलाई 2023 तदनुसार 18 आषाढ़, सम्वत् 2080 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

स्वार्थी, उपहास करने वाले व्यक्तियों से हम न डरें !

ले०-आचार्य ज्ञानेश्वरार्य

मा त्वा मूरा अविष्यवो
मोपहस्वान आ दभन।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः।।

शब्दार्थ-मा = नहीं, **त्वा** = तुझको, **मूरा** = मूढ़ व्यक्ति, **अविष्यव** = स्वार्थी लोग, **मा** = नहीं, **दभन्** = दबावें, **उपहस्वान्** = उपहास करने वाले भी नहीं दबावें। **माकीं** = नहीं कर (तू), **ब्रह्मद्विषः** = ईश्वर से द्वेष करने वाले से, **वनः** = संगति प्रेम।

भावार्थ-वेद में परमपिता परमात्मा ने मनुष्यों को जीवन में उन्नति करने के लिए बहुत सी प्रेरणाएँ दी है। ऐसा ही प्रेरक मन्त्र यह है। मन्त्र में सर्वप्रथम बात ईश्वर ने यह बताई है कि हे मनुष्य! तीन प्रकार के व्यक्ति तुझे दबावें नहीं, नष्ट नहीं करें, बदनाम न करें। पहले प्रकार के व्यक्ति होते हैं मूरा-अर्थात् मूढ़-मूर्ख-अज्ञानी व्यक्ति वे होते हैं जिनके पास स्वयं की बुद्धि ऐसी नहीं होती है कि वे सुनी-पढ़ी बात के विषय में अच्छी प्रकार विचार, चिन्तन करके, परीक्षण करके सत्यासत्य का निर्णय ले सकें। ऐसे अज्ञानी व्यक्ति लोगों के द्वारा सुनी-सुनाई बातों को प्रामाणिक सत्य मान लेते हैं अर्थात् वे घटना, क्रिया, तथ्य की गहराई में जाकर सच्चाई का पता नहीं लगा पाते हैं और असत्य को सत्य मान लेते हैं। जैसी बात उनको परिवार, समाज, गाँव, देश के व्यक्ति बताते हैं, उसी बात को बिना परीक्षण के ही स्वीकार कर लेते हैं।

दूसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं अविष्यवः-अर्थात् स्वार्थी। स्वार्थी व्यक्ति जब अन्य के, मित्रों के उत्तम कार्यों, प्रतिष्ठा, उनका सम्मान, यश-कीर्ति, प्रशंसा को सुनते हैं तो उनकी अपनी प्रतिष्ठा लाभ आदि की हानि होती हुई दिखाई देती है। अतः वे ऐसे उत्तम व्यक्तियों का विरोध करते हैं, उनकी निन्दा करते हैं, उनके विषय में मिथ्या प्रचार करते हैं उनके कार्यों में बाधा पहुँचाते हैं। मूढ व्यक्ति की तो अज्ञान के कारण चतुर, चालाक, धूर्त, छली, स्वार्थी व्यक्तियों की सुनी बातों पर विश्वास करके मिथ्या धारणा बन जाती है। किन्तु अविष्यव-स्वार्थी व्यक्ति तो जानते हुआ भी कि दूसरा व्यक्ति ठीक है पुनरपि अपनी हानि, प्रतिष्ठा को बचाने के लिए अच्छे व्यक्तियों को दबाता है, नष्ट करने का प्रयास करता है।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति होते हैं उपहस्वान-अर्थात् हंसी उड़ाने वाले, ठट्ठा-उपहास करने वाले, व्यंग करने वाले। संसार में अपने से भिन्न किसी व्यक्ति के उत्तम, महान्, अद्भुत, नये असामान्य कार्यों को देखकर अभिमानी व्यक्ति उपहास करते हैं, खिल्ली उड़ाते हैं। ऐसा संसार का नियम है कि व्यक्तिगत या सामाजिक कोई भी नया सुधार का, उन्नति का अद्भुत, प्रेरक, उत्तम कार्य को कोई भी करे उसका सभी स्वार्थी, अभिमानी, अज्ञानी व्यक्ति विरोध करते ही हैं, बल्कि कभी कभी तो भयंकर हानि कर देते हैं, बदनामी कर देते हैं, पीड़ा पहुँचाते हैं, जेल में डलवा देते हैं, यहाँ तक कि मरवा भी देते हैं, या व्यक्ति विवश होकर आत्महत्या भी कर लेता है।

वेदमंत्र के माध्यम से ईश्वर यह आदेश देता है कि ऐसे अज्ञानी, स्वार्थी, उपहास करने वाले व्यक्तियों से हम न डरें, न अशान्त हों, न दुःखी हों। मंत्र के अन्त में एक विशेष बात कही गई है कि समाज में, गाँव में जो ब्रह्मद्विष-नास्तिक है, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, कर्मफल दाता, न्यायकारी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखता है, उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना नहीं करता, उसकी आज्ञाओं का श्रद्धा से पालन नहीं करता है ऐसे व्यक्तियों की संगति-मित्रता न रखें, उनसे उपेक्षा रखें, उनसे अनावश्यक बात न करें, व्यवहार न करें।

हे परमेश्वर हमें इतनी शक्ति, सामर्थ्य, उत्साह, पराक्रम प्रदान करो कि समाज में हमारा अनिष्ट चाहने वाले, अनिष्ट करने वाले अज्ञानी, स्वार्थी, अभिमानी नास्तिक व्यक्तियों द्वारा उपस्थित की गई सभी बुराईयों, निन्दाओं, विरोधों, भ्रान्तियों से किञ्चित्मात्र भी विचलित न हों, संघर्ष न करें, इन सबको प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लें और आवश्यकता होने पर बिना द्वेष, प्रतिशोध के उनका प्रेम पूर्वक शान्ति से प्रतिकार भी कर सकें, समाधान भी निकाल सकें अथवा ऐसा न होने पर धैर्य धारण करके अपने, समाज व राष्ट्र के लिए उत्तम कार्यों को करते ही रहें।

इहैव सन्तेऽथ विद्मस्तद्वयं

ले.-शिवनारायण उपाध्याय कोटा

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रजापति कश्यप ने घोषणा की कि हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास स्थान है वह पाप से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य काम और सत्य संकल्प है। उसकी खोज करनी चाहिए उसी को जानना चाहिए जो उसको खोज लेता है, जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।

उन्होंने यह भी कहा कि उसे जानने का, खोजने का प्रयत्न भी इसी मानव शरीर में रहते हुए किया जा सकता है। यदि इस जीवन में उसे खोजा न जा सका तो महती हानि है। उनकी इस घोषणा की प्रति ध्वनि दूर-दूर तक सुनाई दी।

कठोपनिषद् 6.4 में इसे दोहराया, 'इहे सन्तेऽथ विदमस्तद्वियं चेदवेदीर्महती विनष्टि।'

केनोपनिषद 2.5 में कहा गया, 'इहे चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। आत्मा को इसी जीवन में जान लिया तो ठीक है यदि इस जीवन में नहीं जाना तो बड़ी हानि है।

फिर जानने का कार्य प्रारम्भ हुआ तो कठोपनिषद् 2.23 में कहा गया है कि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' यह आत्मा भाषणों से, बुद्धि विकास से, बहुत शास्त्राध्ययन से भी नहीं जाना जा सकता है।

मुण्डक उपनिषद् 3.2.3 ने भी इसी को दोहराया ही नहीं वरन् इसमें यह और जोड़ दिया, 'नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो न प्रमादत्तपसो वाप्यलिंगात'। इस आत्मा को बल हीन व्यक्ति नहीं जान सकता है, न ही इस आत्मा को प्रमाद से, तप से ही जाना जा सकता है।

फिर इसे जानने का प्रयत्न तेजी से चला तो कठोपनिषद् के ऋषि ने जानकर कहा,

'न जायतेम्रियतेवा विपश्चिन्नायं कुतीश्चन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्य शाश्वतोऽयं पुराणेन हन्यते हन्यमाने शरीरे। कठोपनिषद् 2.18

श्रीमद्भगवत गीता ने भी कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ दूसरे अध्याय के 20वें श्लोक में दोहरा दिया-'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।' यह शरीरी न कभी जन्मता है और न कभी मरता है तथा यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला नहीं है। यह जन्म रहित नित्य निरन्तर शाश्वत् और अनादि है शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता है।

इसी धारणा को आगे बढ़ाते हुए गीता अध्याय 2 श्लोक 22 में कहती है-

वांसांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानिग्रह्याति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय-जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।'

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को तजकर दूसरे नये वस्त्र धारण कर लेता है ऐसे ही देही (आत्मा) पुराने शरीर को छोड़ कर दूसरे नये शरीर में चला जाता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः
अनाशिनोऽ प्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।

अविनाशी जानने में न आने वाले और नित्य रहने वाले इस शरीरी के ये देह अन्त वाले कहे जाते हैं इसलिए हे अर्जुन तुम युद्ध करो।

भगवान श्री कृष्ण के कुल गुरू महर्षि गर्ग थे। उन्होंने ऋग्वेद के मण्डल 6 के सूक्त 47 के ऋषि के रूप में शरीर और शरीर के सम्बन्ध को बताते हुए कहा है।

युजानो हरितारथे भूरित्वष्टेह राजति।
को विश्वाहा द्विषतः पक्ष आसत उदासीतेषु सूरिषुः।। ऋ. 6.47.19

अर्थ-जैसे कोई भी सारथि सुन्दर रथ के समान शरीर में चलने वाले घोड़ों को जोड़ता हुआ बहुत प्रकाशित होता है और सूक्ष्म करने वाला जीव इस शरीर में प्रकाशित होता है कौन इस शरीर में सब दिन द्वेष से युक्त का ग्रहण करता है और भी स्थित विद्वानों में मूर्ख का आश्रय कौन करता है?

कठोपनिषद् ने वेद के इस मंत्र की व्याख्या इस तरह की है-

आत्मानां रथिन विद्धि शरीरं रथमेवत्तु
बुद्धिन्तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च।। कठ. 3.8

¥ĺ üआत्मा को तुम रथि मानो और शरीर को रथ मानो। बुद्धि को सारथि और मन को लगाम मानो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्ते त्याहुर्मनीषिण।। कठ. 3.4

इन्द्रियों को घोड़े कहा जाता है और विषय को उनका मार्ग कहा जाता है। आत्मा इन्द्रिय और मन मिले हुए अथवा इन्द्रिय और मन से समन्वित् आत्मा भोक्ता है।

शरीर और आत्मा का भेद बताते हुए ऋग्वेद में कहा गया है-

अधासु मन्द्रो अरतिर्विभावाव स्थति द्विवर्तेनिर्वनेषाद्।
ऊर्ध्वा यच्छेणिर्नशिशुर्दन्म क्षु स्थिरं शवृधं सूत माता।। ऋ. 10.61.20

भावार्थ-सब प्राणी शरीर प्रकृति के ही विकृत रूप हैं। उनमें बसने वाला आत्मा ही चेतन है जो इस जन्म और अगले जन्म, संसार और मोक्ष इन दो मार्गों पर गतिमान रहता है। अतएव वहीं नित्य है। उसकी उच्च स्थिति ही मोक्ष है। जहाँ वह स्थाई आनन्द की प्राप्ति करता है। वही सुख सृजक तथा प्रशंसनीय है।

ऋग्वेद 10.101.8 में कहा गया है कि देह ही इन्द्रियों का निवास स्थान है। वही आत्मा का पालक एवं सुख से रस पान करने का स्थान है वही कवच के तुल्य है।

श्वेताश्वतर 5.10 में कहा गया है

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन सरक्ष्यते।।

यह आत्मा न स्त्री है, न पुरूष और न ही नपुंसक है। इसको जैसा शरीर मिल जाता है वह वैसा ही बन जाता है। आत्मा का कारण शरीर कैसा है इसे श्वेताश्वतर इस प्रकार बताता है, 'बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स चानन्नयाय कल्पते।। श्वे.उप. 5.9

बाल के खड़े भाग के सौवें भाग का सौंवा भाग किये हुए का और एक हिस्सा जीवात्मा को जानना चाहिए और वह ही सूक्ष्ममाति सूक्ष्म अनन्त कर्म और शक्ति के लिए समर्थ है सूक्ष्माति सूक्ष्म जीव अजर-अमर है तथा कार्यरूप प्रकृति से बना यह देह नश्वर है परन्तु कारण रूप प्रकृति अविनाशी है।

आत्मा शरीर में कहाँ रह कर शरीर का संचालन करता है?

इस प्रश्न का उत्तर कठोपनिषद् अध्याय 6 के श्लोक 17 में दिया है:

अंगुष्ठ मात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्वाच्छ शरीर त्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्या च्छु कममृतं तं विद्याच्छुकम मृक्तमिति।।

अंगूठे के परिणाम वाला परमात्मा आत्मा के अन्दर रहने वाले जन्म धारी मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है। उस परमात्मा को अपने शरीर में प्रत्यक्ष करना चाहिए। मुंह से सींक जैसे निकालते हैं वैसे प्रणय काल में धैर्य से जीवात्मा को शरीर से निकालना चाहिए। उस आत्मा को शुद्ध पवित्र जाने।

मृत्यु के समय आत्मा शरीर निकल कर क्या करता है?

इस पर यजुर्वेद अध्याय 39 मंत्र संख्या 6 में कहा गया है-

सविता प्रथमेऽहन्नग्नि द्वितीये वायु स्ततृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतु षःष्ठे मरूतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरूणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वे देवा द्वादशे।।

अर्थ-हे मनुष्यों! इस जीव को शरीर छोड़ने पर पहले दिन सूर्य, दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन आदित्य (महीना), पांचवें दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मरूत, आठवें दिन बृहस्पति, नवमें दिन (प्राण) मित्र उदान, दसवें दिन विद्युत्त, ग्याहरवें दिन और बारहवें दिन सब दिव्य गुण प्राप्त होते हैं। इसके बाद यह पुनर्जन्म पा लेता है। इसके विपरीत बृहदारण्यक की मान्यता इस प्रकार है-

तृण जलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्य माक्रममाक्रम्यात्मा-नमुपसंऽहरात्येव मेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्मात्मांन

(शेष पृष्ठ 7 पर)

सम्पादकीय

योग शरीर व सांसारिक सुख समृद्धि का साधन

अभी गत 21 जून को हम सबने मिलकर विश्व योग दिवस मनाया। हमारी यह प्राचीन विद्या विश्व को क्या संदेश दे पाई, यह विचारणीय है। भारत के प्रधानमंत्री जी ने 135 देशों के लोगों के साथ अमरीका में योग करके भारत के गौरव और सम्मान को बढ़ाया। आखिर योग है क्या? मनुष्य जीवन का उद्देश्य अपने को सुखमय तथा शक्ति सम्पन्न बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है जब हमारा शरीर नीरोग तथा सबल हों। मनुष्य का जीवन एक संग्राम भूमि है जिसमें हमें प्रतिदिन सैकड़ों विरोधी शक्तियों से युद्ध करना पड़ता है। अत: इस जीवन संग्राम में वही विजयी हो सकता है जो बल और शक्ति से परिपूर्ण है। वेद में भी मानव प्रार्थना करता है कि- **विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्**। अर्थात् मैं सब प्रकार के बलों का स्वामी बनकर सब दिशाओं में विजय प्राप्त करूं। आज संसार शक्ति का उपासक है अर्थात् जिसके पास शक्ति और बल है, संसार के प्राणी उसका ही सम्मान करते हैं। शक्ति सम्पन्न मनुष्य को सताना तो दूर रहा, कोई भी मनुष्य उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता। इसके विपरीत कमजोर मनुष्य को हर कोई सताता तथा पीड़ा पहुंचाता है। अत: यदि हम अपने जीवन को सुखमय तथा शक्ति सम्पन्न बनाना चाहते हैं, संसार में प्रतिष्ठा और सम्मान से जीना चाहते हैं और इस अमूल्य मानव जीवन को यूं ही न खोकर उसके द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करना चाहते हैं तो हमें सबसे पहले अपने शरीर को स्वस्थ, बलवान् तथा नीरोग बनाना होगा। शरीर के स्वस्थ और बलवान बन जाने पर मन अपने आप ही थोड़े से साधन द्वारा बलवान् तथा दिव्य शक्तियों का केन्द्र बन जाएगा। क्योंकि शरीर और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर के सूक्ष्म तत्वों से ही मन बनता है। अत: शरीर के बलवान् होने पर मन में भी उमंग और उत्साह का संचार होगा। शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाने के लिए शरीर शास्त्रियों ने अनेक स्वाभाविक तथा सरल उपायों का आविष्कार किया है। किन्तु मनुष्य उन सरल तथा स्वाभाविक उपायों को छोड़कर कृत्रिम उपायों की ओर ही अधिक अग्रसर हो रहे हैं। यही कारण है कि हम जितना भी कृत्रिम उपायों के द्वारा शरीर को स्वस्थ तथा बलवान् बनाने का यत्न करते हैं, उतना ही हमारा शरीर निर्वीर्य, निस्तेज, निर्बल तथा रोगग्रस्त होता चला जाता है। शरीर के निर्बल तथा रोगग्रस्त होने के कारण आज हम पूर्णायु को न प्राप्त कर अल्पायु में ही काल के ग्रास बन रहे हैं। हमारे पूर्वज महर्षियों ने स्पष्ट कहा है-**शतायुर्वै पुरूष:** अर्थात् मनुष्य निश्चय से सौ वर्ष की आयु वाला है। इतना ही नहीं महर्षि मनु ने तो यहां तक लिखा है कि- सतयुग में मनुष्य सर्वथा नीरोग तथा सब प्रकार से पूर्णकाम थे तथा उनकी आयु 400 वर्ष की थी, त्रेता में 300 वर्ष थी, द्वापर में 200 वर्ष थी तथा कलियुग में 100 वर्ष की ही रह गई है। भीष्म पितामह जैसे महापुरूषों का दो-दो सौ वर्ष तक जीना आज हमारे लिए असम्भव घटना हो गई है। अत: दीर्घायु प्राप्त करने के लिए भी अपने शरीर को स्वस्थ तथा बलवान् बनाना हमारे लिए परम आवश्यक है। आज अन्य सब कामों के लिए हमारे पास समय है परन्तु शरीर को स्वस्थ, बलवान् और नीरोग बनाने के लिए और उसकी देखभाल करने के लिए हमारे पास समय नहीं है। जिस बात पर हमारा ध्यान सबसे पहले जाना चाहिए, प्रथम तो उस बात पर हमारा ध्यान जाता ही नहीं और जाता भी है तो तब जब शरीर को नाना प्रकार के रोग और निर्बलताएं आकर घेर लेती हैं। शरीर निस्तेज तथा निर्बल बन जाता है। शरीर की सब मशीन ही अपना काम करना छोड़ देती है। उस समय भी हम अपने शरीर को नीरोग बनाने के लिए दवाओं को खाने और इंजेक्शन लगवाने आदि कृत्रिम साधनों की ओर ही ध्यान देते हैं। स्वाभाविक साधनों की ओर तो हमारा ध्यान जाता ही नहीं। प्रात: काल उठकर सैर करना, प्राणायाम करना, योगासन करना आदि की ओर हम ध्यान नहीं देते। अपनी दिनचर्या को नियमित बनाने का कभी प्रयास नहीं करते, अपने खान-पान की ओर सदैव ध्यान नहीं देते जिसके कारण हमारा शरीर रोगों का घर बन जाता है।

हमारे इस शरीर को कृत्रिम साधनों से स्वस्थ बनाने की प्रवृत्ति ने ही नाना प्रकार की दवाओं का आविष्कार किया है। आज जिस प्रकार नाम के धर्मगुरूओं ने धर्म को कमाई का साधन बना रखा है, उसी प्रकार डॉक्टरों ने भी स्वास्थ्य को अपनी कमाई का साधन बना लिया है। हम सब भी दवाईयों के चक्कर में पड़कर अपने स्वास्थ्य को खराब कर लेते हैं। इंजेक्शनों आदि के द्वारा शरीर में अस्थाई अर्थात् क्षणिक स्फूर्ति और चेतना को ही हमने शरीर का स्वास्थ्य समझ लिया। आज बहुत कम ऐसे सौभाग्यशाली मनुष्य होंगे जो शरीर से पूर्ण स्वस्थ हों। कई लोग तो वास्तव में स्वस्थ न होते हुए भी भूल से अपने आपको स्वस्थ समझ लेते हैं। किन्तु वास्तव में शरीर विज्ञान के आचार्यों ने जो स्वस्थ तथा नीरोग मनुष्य के लक्षण बताए हैं, उनके अनुसार ढूंढने से कोई सौभाग्यशाली मनुष्य ही स्वस्थ और नीरोग मिलेगा। आयुर्वेद आरोग्यता के निम्न लक्षण बताता है कि भोजन ग्रहण करने की स्वाभाविक रूचि और अभिलाषा का होना, खाए हुए भोजन का सुखपूर्वक भली प्रकार से पच जाना, मल मूत्र और अपान वायु का विसर्जन नियमपूर्वक भली प्रकार सरलता से हो जाना, शरीर का हमेशा हल्का व फुर्तीला रहना, इन्द्रियों में सदा प्रसन्नता तथा कार्यक्षमता का होना, निद्रा और जागरण दोनों का बिना किसी कष्ट के सुखपूर्वक होना, सोने और जागने में सुख और शान्ति का अनुभव होना, शरीर में बल, पराक्रम और आरोग्यता का होना, मुखादि अंगों का तेजस्वी तथा सुन्दर वर्णयुक्त होना ये स्वस्थ तथा दीर्घ जीवन के लक्षण हैं।

योग को आज विश्व में एक नई पहचान मिल रही है। परन्तु योग कोई एक दिन विशेष की वस्तु नहीं है। योग हमारी प्रतिदिन की जीवनचर्या का हिस्सा है। जैसे हम प्रतिदिन भोजन करते है, खाते हैं, पीते हैं। उसी प्रकार योग भी नियमित किया जाने वाला व्यायाम हैं। अगर हम अपने जीवन को तनावमुक्त बनाना चाहते हैं तो हमें योग को अपने जीवन की दिनचर्या में शामिल करना होगा। योग हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों के द्वारा प्रदत्त स्वस्थ और नीरोग जीवन जीने की पद्धति है। योग साधना के द्वारा, प्राणायाम के द्वारा हमारे ऋषि दीर्घायु को प्राप्त करते थे। योग करने से मानसिक तनाव कम होगा, शरीर निरोग होगा तथा मन में एक नई ऊर्जा का संचार होगा। इसीलिए हम सभी अगर स्वस्थ, मानसिक तनाव से रहित, नीरोग और दीर्घायु जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो हमें ऋषियों की पद्धति को अपनाना पड़ेगा। योग की पद्धति को अपनाकर ही एक स्वस्थ और सुन्दर राष्ट्र का निर्माण हो सकता है।

अब हमें विचार करना है कि आरोग्यता के इन लक्षणों के अनुसार क्या हम पूर्ण स्वस्थ और नीरोग हैं? क्या हमारे अन्दर आरोग्यता के उपर्युक्त लक्षण विद्यमान हैं? यदि नहीं तो अपने को पूर्ण स्वस्थ और नीरोग समझ लेना स्वयं को धोखा देना है। आयुर्वेद में वर्णित स्वास्थ्य के लक्षणों के द्वारा ही पूर्ण स्वस्थ और नीरोग बन सकते हैं। बनावटी साधनों के द्वारा हम कुछ समय के लिए आरोग्यता का अनुभव कर सकते हैं परन्तु उसका प्रभाव खत्म होने पर हम पुन: दु:खी होंगे। अत: हमें प्रकृति के स्वाभाविक साधनों से अपने शरीर को स्वस्थ, बलवान् और नीरोग बनाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। जितना हम व्यायाम करेंगे, योग करेंगे, प्राणायाम करेंगे, अपनी दिनचर्या को नियमित करेंगे अर्थात् समय पर सोना, समय पर जागना आदि कार्यों पर ध्यान देना होगा तभी कोई भी रोग हमारे शरीर को नहीं लग सकता। हमारा असंयमित जीवन ही हमें दु:खों, कष्टों और क्लेशों की ओर ले जाता है। अत: हम अपने जीवन को संयमी बनाकर, आरोग्यता को प्राप्त कर दीर्घायु जीवन को प्राप्त करने का प्रयास करें तभी हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है।

प्रेम कुमार
संपादक एवं सभा महामन्त्री

सांख्य की ग्यारह इन्द्रियां और वेदान्त

ले.-विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री

सांख्य के तेरह करणों में ग्यारह को 'इन्द्रिय' माना गया है। इनमें पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक आन्तर इन्द्रिय है। इनमें श्रोत्र त्वक् चक्षु रसन घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ये दस बाह्य इन्द्रिय कही जाती हैं। इसी अपेक्षा से एक आन्तर इन्द्रिय मन है। इनके इस नामकरण का मुख्य आधार अपने ग्राह्य विषयों के साथ सीधा संपर्क होना कहा जा सकता है। यथाक्रम इनके विषय हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग, आनन्द, स्मृति। पहले पाँच यथाक्रम ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं, श्रोत्र आदि से शब्द आदि का ज्ञान सम्पन्न होता है, ये ज्ञान के बाह्य साधन हैं। किसी भी ज्ञान के पूरा होने के लिये सबसे पहला पग इन साधनों का अपने विषय के साथ सम्बन्ध होना है, जो निश्चित रूप से बाहर का संसार है। इसके अनन्तर आन्तर साधन अपना कार्य करते हैं, तब ज्ञान पूरा हो जाता है।

आन्तर साधनों के तीन स्तर हैं। जो विषय बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसका मनन (तर्कवितर्कात्मक अथवा संकल्प विकल्पात्मक विचार) मन से, अभिमान अहंकार से तथा निश्चय बुद्धि के द्वारा होता है। यह ज्ञान का अन्तिम स्तर अथवा पग है। यहाँ ज्ञान पूरा हो जाता है। ज्ञान के इस क्रम में मन जो कार्य करता है, उसके आधार पर उसे केवल 'करण' कहा जा सकता है इन्द्रिय नहीं, क्योंकि उन उन विषयों के साथ उसका कोई सीधा संपर्क नहीं, प्रत्युत बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही वह सम्पन्न होता है। आनन्तर करण होने से इसकी गणना अन्त:करणों में की गई है।

वचन आदि अगले पाँच विषय यथाक्रम कर्मेन्द्रियों के हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कार्यक्रम में जिस आनुपूर्वी को हमने परिलक्षित किया है, कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में उससे कुछ विपर्यय देखा जाता है। ज्ञानेन्द्रियों में पहले, इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होता है, तब इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध मन अपना कार्य करता है, फिर अहंकार और अन्त में बुद्धि निश्चय करती है। पर कर्मेन्द्रियों में यह क्रम परिलक्षित नहीं होता। वहाँ जिस क्रिया का अनुष्ठान करना होता है, उसके अनुकूल संस्कार अथवा वासना किसी उद्बोधक निमित्त के द्वारा मन में स्मृति रूप से उठ आती है, और मन उस भावी क्रिया के विषय में संकल्प विकल्पात्मक विचार प्रस्तुत करता है, अहंकार अभिमान तथा बुद्धि उसका निश्चय कर डालती है। अनुकूल स्मृति के उद्बोध से लेकर क्रियानुष्ठान के निश्चय तक अन्त:करणों का कार्यक्रम यथापूर्व रहता है। निश्चय के अनन्तर चेतन आत्मा की प्रेरणा से वह कर्मेन्द्रिय क्रियानुष्ठान में तत्पर हो जाती है, जिसका वह विषय है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के कार्यक्रम में इतना अन्तर है। यह इन्द्रियों की अपनी विशेष रचना तथा ज्ञान व कर्मरूप विलक्षण विषयों की स्थिति पर आधारित है।

ग्यारहवां विषय स्मृति है। किसी भी विषय की स्मृति, तद्विषयक संस्कार अथवा वासनाओं के आधार पर प्रकाश में आती है, संस्कार अथवा वासनाओं का आधार चाहे जो हो, पर स्मृतिरूप में प्रकट होने के लिये उनका सीधा संपर्क मन से होता है, इसलिये स्मृति के प्रकाशन में मन इन्द्रिय रूप से उपस्थित होता है। स्मृतिविषयक अभिमान और निश्चय अहंकार तथा बुद्धि के द्वारा पूर्वक्रमानुसार ही होते रहते हैं। 'मन' अन्त:करण होते हुए इसी कारण 'इन्द्रिय' कहा जाता है। ज्ञान और कर्म के रूप में अपनी विलक्षणता के आधार पर समस्त विषय ग्यारह वर्ग में सीमित हैं। उनके ग्रहण व अनुष्ठान के लिये ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व सम्पन्न होता है। ज्ञान कर्म के रूप में विषय की न्यूनाधिकता न होने से इन्द्रियों की न्यूनाधिकता संभव नहीं। सांख्य में नियत रूप से ग्यारह इन्द्रियों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

गौतम-कणाद ने छह इन्द्रियाँ स्वीकार की हैं, उन्होंने कर्मेन्द्रियों को इन्द्रिय नहीं माना। केवल ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय संज्ञा दी है। उनका कहना है, कि कर्म के साधन स्थूलशरीर के अवश्वमात्र हैं, उनके अतिरिक्त यहाँ किसी अन्य इन्द्रिय नामक तत्त्व के अस्तित्व की संभावना ही नहीं करनी चाहिये। केवल ज्ञानसाधन, बाह्यगोलकों के पीछे अपना अतिरिक्त अस्तित्व रखते हैं, जिनको इन्द्रिय कहा जाता है। सांख्य की दृष्टि से कर्मसाधन शरीरावयवों के पीछे भी इन्द्रियों का अस्तित्व है। वस्तुत: जिन शरीरावयवों को कर्मसाधन कहा गया, वे उन इन्द्रियों के बाह्य गोलकमात्र हैं, पीछे बैठा इन्द्रिय उनके द्वारा क्रियानुष्ठान का साधन है। यह केवल रुचि की बात कही जा सकती है, कि कोई ज्ञानसाधनों को इन्द्रिय माने, कर्मसाधनों को न माने। पर वस्तुस्थिति इसका साथ नहीं देती। ज्ञानसाधनों की तरह कर्मसाधनों को भी इन्द्रिय मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। अन्य भारतीय साहित्य भी इस तथ्य की विस्तार के साथ पुष्टि करता है।

भगवद्गीता में '**मन: षष्ठानी-न्द्रियाणि**' यह वाक्य केवल ज्ञानेन्द्रियों का निर्देश करता है, यह बात अगले श्लोकों से स्पष्ट है। इसका यह अभिप्राय न समझना चाहिये, कि गीता ने छह इन्द्रियों का ही अस्तित्व स्वीकार किया है। क्योंकि अन्य प्रसङ्गों [१३।५] में इन्द्रियों की नियत ग्यारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख है। प्राय: समस्त भारतीय साहित्य के द्वारा इस तथ्य का प्रतिपादन, सांख्यनिर्दिष्ट तत्त्वविषयक वस्तुस्थिति को और अधिक प्रकाश में ले आता है। चाहे वह प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से माना जाय, अथवा सांख्यविचारों के प्रभाव से।

वेदान्त सूत्र [२।२।१०] के भाष्य में आचार्य शंकर ने सांख्यसिद्धान्तों के प्रत्याख्यान-प्रसङ्ग से इन्द्रिय विषयक सिद्धान्त में परस्पर विरोध होने की आपत्ति प्रस्तुत की है। आचार्य ने लिखा है, कि 'सांख्य में परस्पर विरोधी मतों को मान लिया गया है। कहीं सात इन्द्रियों का वर्णन है तो कहीं ग्यारह का। कहीं महत् से तन्मात्र की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है तो कहीं अहंकार से। कहीं पर तीन अन्त:करणों का वर्णन है, तो कहीं एक का।' इस विप्रतिषेध के आधार पर आचार्य ने सांख्य सिद्धान्तों में उपहासपूर्वक उपेक्षा की भावना प्रदर्शित की है।

उपनिषदों में संसार के सर्गसम्बन्धी उल्लेख परस्पर अति विभिन्न रूप में उपलब्ध होते हैं। ब्रह्म-सूत्रकार और सूत्रों के भाष्यकार स्वयं आचार्यशंकर ने बहुत विस्तार और आरभटी के साथ उन उपनिषद् वाक्यों के समन्वय का प्रयत्न किया है। फिर भी यह निश्शक तथा निर्बाध रूप में नहीं कहा जा सकता, कि वह समन्वय सर्वथा यथायथ हो सकता है। उसका कारण है-ब्रह्मसूत्रों का जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने किया है, उससे सर्वथा भिन्न व्याख्यान अन्य आचार्यों ने किये हैं। इनमें से सूत्रकार का आशय कौन सा है, इसका निर्णय करने के लिये आज तक कोई कसौटी काम नहीं दे सकी। यह भी संभव है, कि कदाचित् उनमें से एक भी व्याख्यान सूत्रकार के आशय के अनुकूल न हो। क्या अब हम इस प्रकार के विप्रतिषेध के आधार पर वेदान्त के मूल सिद्धान्तों को असमञ्जस कह सकते हैं? और क्या उन व्याख्याकारों के परस्पर मतिविभेद के आधार पर सूत्रकार ऋषि का विप्रतिषेधमूलक उपहास किया जा सकता है? आचार्य शंकर के ही शिष्यों अथवा अनुयायियों ने अनेक परस्पर विरोधी मतों का उपपादन किया है, क्या उससे आचार्य के प्रतिपादित मूल मत पर चोट दी जा सकती है? स्वयं आचार्य ने उक्त सूत्र के प्रसंग से दो पग आगे ही बौद्धमत खण्डन के अवसर पर कितने बलपूर्वक यह नहीं लिखा- स्मृतिरेषा यत्स्वप्रदर्शनम् [२।२।२९]। क्या आचार्य सचमुच स्वप्न को स्मृति मानते हैं? क्या आचार्य ने सर्वथा अपने मन्तव्य के विरुद्ध स्वयं इसको नहीं लिखा? आचार्य के ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसंग दिखाये जा सकते हैं। क्या यह अपनी आँख का शहतीर भी न दीखने की बराबर नहीं है?

आचार्य शंकर के उपपादित समन्वय की यथार्थता और सूत्रकार का वही आशय होने की वास्तविकता, बौद्धमत प्रत्याख्यान में आयोजित सूत्रों के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाती है। वेदान्तदर्शन के इन पन्द्रह सूत्रों का बौद्धमत खण्डन की दृष्टि से जो व्याख्यान आचार्य शंकर ने प्रस्तुत किया है, और उसमें प्रत्याख्यान की जिस रीति का आश्रय लिया गया है, सूत्रकार का सर्वथा वही आशय था-यह उपपादन करना अत्यन्त कठिन है। यह ठीक है कि बौद्धदर्शन की उन परिभाषाओं और आन्तरिक विभेदों के स्पष्टतया प्रकाश में आ जाने पर आचार्य शकर का प्रादुर्भाव हुआ, पर बौद्धदर्शन की

(शेष पृष्ठ 6 पर)

अनुव्रती पुत्र

ले.-नरेन्द्र आहूजा

संसार में मनुष्य के रूप में जन्म लेने के उपरांत हमारा नैतिक कर्त्तव्य बन जाता है कि हम अपने जन्मदाता माता-पिता के प्रति पूरी निष्ठा से सेवाभाव रखते हुए उनका अनुव्रती होकर अपने पुत्र धर्म का निर्वहन करें। इस संदर्भ में परमपिता परमेश्वर द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही समस्त प्राणियों के लिए आचार संहिता के रूप में दिये गए ईश्वरीय ज्ञान वेद में भी स्पष्ट आदेश है **अनुव्रतः पितुः पुत्रौ मात्रा भवतु संमना।** अथर्ववेद 3/30/2 अर्थात पुत्र पिता के उद्देश्यों व्रतों के अनुकूल चलने वाला हो तथा माता के साथ प्रीति युक्त मन वाला हो। इस प्रकार पुत्र धर्म के निर्वहन के लिए पिता के व्रतों के अनुकूल चलना अनिवार्य बताया गया। वैसे भी लौकिक व्यवहार में हम अपने जीवन में अपना तनिक सा उपकार करने वाले का भी धन्यवाद विनम्रता पूर्वक करते हैं। यदि गर्मी के मौसम में कोई शीतल जल पिला दे तो उसका हम सभी धन्यवाद करते हैं तो फिर माता पिता के उपकारों को भुला कर हम कैसे कृतघ्नता दोष या पाप के भागी बन सकते हैं।

लेकिन अब यहां एक और प्रश्न उत्पन्न होता है यदि किसी का पिता शराबी, कबाबी और अधार्मिक हो तो क्या पुत्र को अपने पिता का अनुकरण करते हुए स्वयं भी बिगड़ जाना चाहिये या फिर ऐसे समय में पिता के इस अधार्मिक आचरण के विपरीत चलना चाहिये। यहां इस बात को एक अन्य लौकिक उदाहरण से समझने का प्रयास करते हैं यदि कोई आगे चल रहा वाहन सड़क पर बने गड्डे में फंस जाता है तो हम उसकी विपरीत स्थिति देखकर अपने वाहन की दिशा को परिवर्तित कर लेते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि किसी कुसंग में फंसकर पिता ने अपनी जीवन यात्रा को कुमार्ग के गड्ढों में फंसा दिया तो उनकी इस विपरीत स्थिति से भी शिक्षा लेते हुए स्वयं का बचाव करना और अपने जीवन को सुमार्ग पर चलाना ही उचित है। वैसे भी ऐसी स्थिति में पिता के नशेड़ी या कुमार्गी होने पर परिवार पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव से हमें यही शिक्षा मिलती है कि इस स्थिति में हमें पिता के कुमार्ग पथ का अनुकरण नहीं करना है।

अब प्रश्न उठता है कि इस स्थिति में वेद भगवान के आदेश **अनुव्रतः पितुः पुत्रौ** अर्थात् पिता के अनुव्रती होने का क्या होगा। इसके लिए हमें 'अनुव्रती' होने का अभिप्राय समझने के लिए इसके यौगिक अर्थ को जानना होगा। यजुर्वेद में व्रत की व्याख्या करते हुए कहा **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।इदमहमनृतात्सत्मुपैमि।।** यजु 1/5 अर्थात् हे सत्यप्रकाश स्वरूप परमात्मन् आप व्रतों के पालक एवं रक्षक हैं। मैं असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करने का व्रत लेता हूं मुझे इस व्रत को पूर्ण करने की शक्ति प्रदान करें। इस वेद मंत्र में दी गई व्रत की परिभाषा शुभ संकल्प से स्पष्ट हो जाता है कि अनुव्रतः होने का सीधा अभिप्राय यही है कि हमें अपने जीवन में पुत्र धर्म का निर्वहन करने के लिए पिता के व्रतों अर्थात् शुभसंकल्पों अर्थात् असत्य त्याग कर सत्य मार्ग पर चलने का ही अनुसरण करना है। यक्ष युधिष्ठिर संवाद में युधिष्ठिर ने पिता को आकाश से भी ऊँचा बता कर पिता के महत्व को स्थापित किया है और अपने जीवन में अपने पुत्र से पराजित होने की प्रसन्नता की भव्य एवं दिव्य भावना का वर्णन पिता के लिए किया है। इससे भी स्पष्ट है कि यदि पिता कुमार्गी अधार्मिक है तो वह अपने पिता होने का दायित्व नहीं निभा रहा ऐसी स्थिति में पिता के उस कुमार्ग का अनुसरण करना पुत्र के लिए आवश्यक नहीं है। माता पिता के लिए पृथ्वी भर की समस्त संपदाओं से भी अधिक मूल्यवान पुत्र सम्पदा है। और पुत्र को "**पुनाति त्रायते च**" अर्थात् कुल को पवित्र करने वाला और माता-पिता की रक्षा करने वाला कहा गया।

इस बात को एक अन्य प्रकार से समझने का प्रयास करते हैं। हमारे पिता फिर पिता के पिता दादा और दादा के पिता परदादा ऐसे यह लंबी कड़ी सृष्टि के उत्पतिकर्ता परमपिता परमेश्वर तक जाती है। अब इस लंबी अंतहीन सी कड़ी में बीच में किसी ने यदि अपने सच्चे पुत्र धर्म का निर्वहन नहीं किया तो यह कड़ी टूट जाती है। अब इस टूटी कड़ी को जोड़ने और अपनी वंश परम्परा को परमपिता तक पहुंचाने के लिए हमें परमपिता परमेश्वर का सच्चा अनुव्रती होना पड़ेगा। इससे लंबी वंश परम्परा में यदि कहीं अप्रभ्रंश दोष आ गया है तो हम परमपिता परमेश्वर तथा उन द्वारा प्रदत्त ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुगामी होकर उस आ गए दोष को दूर कर सकते हैं। हमें इस बात की प्रेरणा मिलती है जैसे यज्ञ की अग्नि में आहूत होकर समिधा अपने अंदर छिपी अग्नि को अग्निदेव के साथ एकरूप करते हुए अग्निस्वरूप हो जाता है ठीक उसी प्रकार इस मनुष्य जीवन में हम भी अनुव्रती होने का सच्चा अभिप्राय समझ कर अपनी आत्मा को अग्नि स्वरूप परमात्मा को समर्पित कर उनके गुणों से एकरूपता स्थापित करते हुए उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने का शुभ संकल्प लेते हुए पिता के अनुव्रती होने के धर्म का निर्वहन कर सकते हैं। लौकिक जीवन में पिता के सभी शुभसंकल्पों संस्कारों को अपनी बुद्धि विवेक की छलनी में से छानकर उन्हें अपने जीवन में धारण करना ही पिता का अनुव्रती होना कहलाता है।

आर्य समाज कमालपुर होशियारपुर का चुनाव

दिनांक 11-06-2023 (रविवार) को आर्य समाज मन्दिर कमालपुर होशियारपुर का निर्वाचन प्रधान श्री अश्विनी शर्मा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इससे पूर्व प्रात 09.30 बजे हवन यज्ञ शुरू हुआ जिसमें अमृतसर से पधारे श्रीमती सुखदा देवी शर्मा ने यज्ञमान पद ग्रहण किया। उपस्थित आर्यजनों ने हवन में आहुतियां डाली। प्रो. के. सी. शर्मा ने यज्ञमान महोदय को शुभ कामनाएं अर्पित की और सभी उपस्थित महानुभावों की मंगलकामना के लिए प्रार्थना की। तत्पश्चात सदस्यगण दयानंद हाल में निर्वाचन की प्रक्रिया पूरी करने पहुँचे। मंच का संचालन यश वालिया ने किया, उन्होंने इस समाज की पृष्ठ भूमि में जाते हुए बताया कि आर्य समाज कमालपुर वर्ष 1998 से कार्यरत है और बिना किसी भेदभाव से प्रगति करता रहा है। श्री खेमराज ने आर्य समाज की गतिविधि पर सुन्दर लेख पढ़ा। प्रो. पी. एन चोपड़ा ने पतांजलि के राज योग के सातवें सूत्र की व्याख्या की, और अभ्युदय से लेकर निःप्रेयस तक की यात्रा से अवगत कराया।

सर्व सम्मति से निर्वाचन सम्पन्न हुआ, सभी ने सहमति प्रकट की कि पदाधिकारी अपना कार्यक्षेत्र बढ़ाते चलें, निम्नलिखित पदाधिकारी ß ¥ ¢ÚÐ · ëâ Î SØ ¿ ëÅ»ØÐ **पदाधिकारीः** प्रधान अश्विनी शर्मा, मन्त्री यश वालिया, वरिष्ठ उप प्रधान के. सी. शर्मा एवं रमन कपूर वेद प्रचार मन्त्री पी.एन. चोपड़ा, कोषाध्यक्ष दर्शन गर्ग, कानूनी सलाहकार सलिल चोपड़ा, सह मन्त्री खेम राज, स्त्री प्रधानाः सविता ऐरी। **सभासदः** इन्द्र देव शर्मा, अविनाश भंड़ारी, प्रेम ऐरी, बलराज, वासदेव, राम प्रकाश कपूर, राजेश वर्मा, कुलदीप आहलुवालिया, विशाल गुप्ता।

आर्य मर्यादा के ग्राहक महानुभावों की सेवा में

आर्य मर्यादा साप्ताहिक निरन्तर आपकी सेवा में पहुंच रही है। जिन आर्य मर्यादा के ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक शुल्क या पिछला शुल्क नहीं भेजा है उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वह अपना वार्षिक शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। आर्य मर्यादा का वार्षिक शुल्क मात्र 100/- रुपये है और आजीवन सदस्यता शुल्क 1000/- रुपये है। इसलिये मेरी सभी ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना है कि वह अपना शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। इसके साथ ही आर्य समाजों के पदाधिकारियों एवं सदस्यों से भी निवेदन है कि वह अधिक से अधिक आर्य मर्यादा के ग्राहक बनाने में सहयोग करें। आशा है आप का सहयोग हमें प्राप्त होगा।

-व्यवस्थापक आर्य मर्यादा

पृष्ठ 4 का शेष-सांख्य की ग्यारह इन्द्रियां और वेदान्त

वह सब स्थिति उसी रूप में सूत्रकार व्यास ऋषि के सम्मुख तो नहीं मानी जा सकती। इससे स्पष्ट है-व्याख्याकार ने अपनी भावना व जानकारी को आयासपूर्वक उन सूत्रों में से खींचने का प्रयत्न किया है। कम से कम यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि इस प्रसंग में व्याख्याकार ने जिस ध्वनि को प्रस्फुटित किया है, सूत्रकार का वैसा आशय नहीं कहा जा सकता। सूत्रकार, बौद्धदर्शन की उन परिभाषाओं तथा अवान्तर विभेदों से सर्वथा अपरिचित था, जिनका उद्घाटन व्याख्याकार ने सूत्रों के आधार पर उस रूप में किया है।

सांख्य प्रत्याख्यान के जिस प्रसंग के आधार पर हम यह विवरण दे रहे हैं, उसको भी देखिये। इन दस सूत्रों [२।२।१-१०] में कपिल सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिषेध किया गया बताया जाता है। इन सूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है, कि चेतन की सहायता या प्रेरणा के बिना प्रकृति में कोई क्रिया नहीं हो पाती। चेतन निरपेक्ष अर्थात् चेतन पुरुष से अपरिगृहीत अथवा अनुगृहीत प्रकृति में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जो सांख्य में प्रतिपादित की गई है। पर वस्तुतः देखा जाय, तो प्रतिषेध का यह आधार ही अशुद्ध है। क्योंकि कपिल प्रकृति में चेतन निरपेक्ष प्रवृत्ति मानता ही नहीं। प्रत्युत सांख्य की परम्परा में आचार्य वार्षगण्य का ऐसा मत है। कपिल के सूत्रों से तथा महाभारत आदि में वर्णित कपिल मत सम्बन्धी अन्य प्राचीन उल्लेखों से यह स्पष्ट है, कि वह प्रकृति के अधिष्ठाता एक चेतन को स्वीकार करता है [सांख्य सूत्र १, ६१।। पञ्चशिखसूत्र ३], इसके विपरीत आचार्य वार्षगण्य के एक सन्दर्भ से यह स्पष्ट है, कि वह चेतन पुरुष से अपरिगृहीत प्रधान में स्वतन्त्र अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति मानता है [सांख्यदर्शन का इतिहास, पृ० ५१०, पं० १]। वार्षगण्य के इस सिद्धान्त को बौद्धकाल के प्रारम्भिक दिनों में कपिल अथवा कापिल सांख्य के नाम पर आरोपित किया गया, या ऐसा समझ लिया गया। परिणाम यह हुआ, कि अनन्तर काल में यह सिद्धान्त कपिल का समझा जाने लगा। ऐसे समय में आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा, और इस सिद्धान्त का प्रत्याख्यान कपिल अथवा कापिल सांख्य के नाम पर किया। निश्चित ही सूत्रकार व्यास के समय कपिल अथवा कापिल सांख्य के सम्बन्ध में यह भावना अविद्यमान थी। इसलिये यह कहा जा सकता है, कि सूत्रकार का आशय इन सूत्रों के द्वारा वार्षगण्य मत के प्रत्याख्यान का प्रतिपादन करना रहा हो, अथवा विशुद्ध भौतिकवाद के प्रत्याख्यान की ओर इनका संकेत हो, जिसे आचार्य बृहस्पति आदि ने स्वीकार किया है, पर आचार्य शंकर के व्याख्यान में जिनका गन्ध भी नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुतः ब्रह्मसूत्रों को अभी और अधिक विचारने की बड़ी आवश्यकता है।

आचार्य शंकर ने जिस रीति पर सांख्य सिद्धान्तों में परस्पर विप्रतिषेध का उल्लेख किया है, उसकी एक साधारण झलक हमने वेदान्त तथा स्वयं आचार्य के व्याख्यानों में प्रदर्शित की। पर दूसरे की आँख का तिनका दिखाकर अपनी दृष्टि को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। आचार्य ने सांख्य के इन्द्रिय-सम्बन्धी सिद्धान्त पर जो आपत्ति की है, उसका विवेचन होना चाहिये।

सबसे पहली आपत्ति यह है, कि 'सांख्य में कहीं सात और कहीं ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन है', ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन अभी पीछे दिखाया जा चुका है, यह सांख्य का स्पष्ट सिद्धान्त है, पर सांख्य में सात इन्द्रियों का उल्लेख आज तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। यद्यपि अन्तःकरण के सम्बन्ध में वार्षगण्य तथा पतञ्जलि आदि आचार्यों का कपिल से नगण्य सा मतभेद है, जो मूल सिद्धान्तों में किसी प्रकार के विरोध का उद्भावक नहीं समझा जाना चाहिये। तथापि इन्द्रियों के सम्बन्ध में विशेषकर उनकी संख्या के सम्बन्ध में किसी आचार्य का कोई मतभेद प्रकट में नहीं आया। कापिल सांख्य दर्शन तथा अन्य सांख्याचार्यों के ग्रन्थ और उपलब्ध सन्दर्भों में कोई ऐसा संकेत नहीं, जहाँ सात इन्द्रियों का उल्लेख हुआ हो। फिर भी आचार्य के लेख पर उँगली उठाना कठिन कहा जा सकता है। शास्त्र का क्षेत्र अति महान् है। संभव है, उसने कहीं ऐसा देखा हो। कम से कम हम उसमें साक्षी नहीं दे सकते।

सात इन्द्रियों की संख्या-पाँच कर्मेन्द्रिय, एक ज्ञानेन्द्रिय केवल त्वक, तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन की गणना करके-पूरी की जाती है। एक ज्ञानेन्द्रिय त्वक् के माने जाने का विवेचन गौतम के न्यायसूत्रों [३।१।५२-६२] में उपलब्ध होता है। वहाँ पूर्वपक्ष रूप में एकमात्र ज्ञेन्द्रिय त्वक् बताकर अन्त में पाँच बाह्य ज्ञानेन्द्रियों के सिद्धान्त का निर्णय किया है। इस प्रसङ्ग से यह स्पष्ट नहीं हो पाता, कि एक मात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने का सिद्धान्त किसी आचार्य का था, अथवा ज्ञानेन्द्रियों की पाँच संख्या को स्पष्ट व परिपुष्ट करने के लिये गौतम ने ही पूर्वपक्षरूप में इस बाद की कल्पना कर ली। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के स्थान पर एक मात्र त्वक् ज्ञानेन्द्रिय माने जाने की उद्भावना की गई है। उसके साथ पाँच कर्मेन्द्रिय तथा एक आन्तर इन्द्रिय मन मिलाकर इन्द्रियों की सात संख्या पूरी होती है। पर सांख्य के साथ उसके किसी प्रकार के संपर्क का पता नहीं लगता। इसलिये यह विरोधप्रदर्शन सर्वथा निराधार है।

आचार्य शंकर की दूसरी आपत्ति है-'कहीं महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का उपदेश है, कहीं अहंकार से।' इस विषय में कपिल का एक निश्चित मत है-अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। उसका कोई अन्य ऐसा लेख नहीं, जो इसके विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करता हो। महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का वर्णन उन आचार्यों ने किया है, जिन्होंने अहंकार नहीं माना। इनमें वार्षगण्य को योगव्याख्याकार पतञ्जलि तथा पञ्चाधिकरण आदि का करण नाम लिया जा सकता है। जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी है, तथा अहंकार को करण भी स्वीकार किया है, उनमें योगसूत्रकार पतञ्जलि और भाष्यकार व्यास का नाम उल्लेखनीय है। अभिप्राय यह, कि कपिल के अपने लेख में कोई ऐसा विरोध नहीं है, जिसमें उसने स्वयं एक स्थान पर महत् से तथा अन्य स्थान पर अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति मानी हो। अन्य आचार्यों ने तत्त्वों के उत्पत्क्रिम में यदि कोई ऐसा मत प्रकट किया है, जो कपिल के विचार के अनुकूल न हो, तो इस मतभेद के आधार पर दोनों को असंगत नहीं माना जाना चाहिये। वस्तुस्थिति का विचार करना आवश्यक है। यह संभव है, उन दोनों में से कोई निश्चित रूप से सच्चा हो। यदि इस प्रकार के विभिन्न विचारों के आधार पर दोनों को असत्य माना जा सकता है, तो किसी भी स्थिति में किसी वस्तु का, विचार का, शास्त्र का, सत्य माना जाना संभव नहीं। मतिभेद प्रत्येक स्थान में उपस्थित रहता है। यह मानव स्वभाव है। इसलिये सच्चाई को जानने के लिये हमें वस्तुस्थिति तक पहुँचना आवश्यक है।

सत्य के अन्वेषक को यह परखना होगा, कि मूल उपादान तत्त्व जब किसी विशेष कार्य के रूप में परिणत होते हैं, तब किन अवस्थाओं को पार करके ये उस रूप में आये हैं। कपिल ने अध्यात्म और अधिभूत सर्ग को जिस रीति पर प्रस्तुत किया है, उसकी नियमितता व व्यवस्था को देखते हुए यह धारणा होती है कि तत्त्वों के रचनाक्रम सम्बन्धी उसके निर्देश सच्चाई के अति समीप होने चाहियें। वार्षगण्य आदि जिन आचार्यों ने महत् से तन्मात्रों की उत्पत्ति का संकेत किया है, उन्होंने प्रकृति के आद्य परिणाम महत् की रचना के अनन्तर प्रकट में आने वाले तत्त्वों को दो वर्ग में बाँट दिया है-अविशेष और विशेष। सांख्य में इन पदों का परिभाषा के रूप में प्रयोग हुआ है। आद्य कार्य के अनन्तर प्रकट में आने वाले जो तत्त्व अपने आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं, उनका नाम ''अविशेष'' तथा जो अन्तिम तत्त्व हैं, अर्थात् जो आत्मलाभ के अनन्तर आगे अन्य तत्त्वों के उत्पादक नहीं होते, वे 'विशेष' कहे जाते हैं। अहंकार और पांच तन्मात्र ऐसे तत्त्व हैं, जो आगे तत्त्वान्तरों को उत्पन्न करते हैं। अहंकार से समस्त इन्द्रियाँ तथा तन्मात्र से स्थूलभूत परिणत होते हैं, इसलिये ये 'अविशेष' हैं। इन दोनों की यह समान संज्ञा है। वार्षगण्य आदि आचार्यों ने संभवतः इस समानता के आधार पर अहंकार और तन्मात्र को समान कोटि में वर्णन कर दिया हो। इस रचनाक्रम में यह एक साधारण व्यवस्था भी स्पष्ट होती है, कि आद्यकार्य-महत् से अविशेष तथा अविशेष से विशेषों की उत्पत्ति हो। कपिल के रचनाक्रम में अहंकार से विशेष [इन्द्रियां] और अविशेष [तन्मात्र] दोनों की उत्पत्ति कही जाती है। एक अहंकार दोनों रूपों में परिणत होता है, यह कथन उस व्यवस्था के सामने कुछ अटपटा सा लगता है, जहाँ वार्षगण्य आदि आचार्यों ने महत् से अविशेष एक ओर तथा अविशेषों से विशेषों के उत्पादन का निर्देश किया है।

यज्ञों द्वारा संस्कृति का विकास

ले.-श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री

हमारे यज्ञ एक जातीय प्रदर्शनी के रूप में होते थे। यज्ञों में नट, नर्तक, कलाविद् जन आते थे। उन्हें सादर बुलावा दिया जाता था। यह पता वाल्मीकि रामायण, महाभारत के यज्ञों के वर्णन देखने से लगता है। जब महाराज दशरथ ने अश्वमेध करने का निश्चय किया तो जहाँ यज्ञ-कर्मज्ञ ऋषि मुनि और शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों को बुलावा दिया, वहाँ कलाकारों को भी बुलाया। देखिये:-वाल्मीकि रामायण बालकांड सर्ग १३वाँ श्लोक ६ से ८ तक:-

ततोऽब्रवीद्द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसु निष्ठितान्।

स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधामिकान्।।

कार्यान्तिकाञ्छिल्पिकरान वधकीन खनकानपि।

गणकाञ्छिल्पिकाश्चैव तथैव नटनर्त्तकान्।।

तथा शुची ऽशास्त्रविद: पुरुषान् सुबहुश्रुतान्।

यज्ञकर्म समीहन्ताम् भवन्तो राजशासनात्।

वसष्ठि जी ने आज्ञा दी कि राजा के आदेश से आप लोगों को सब काम करना चाहिये और इन लोगों को आने को आदेश दिया:-

यज्ञकर्मज्ञ वृद्धजन, स्थापत्य कला में निपुण इंजीनियर, मजदूर, अनेक प्रकार के शिल्पकार, बढ़ई, खनक, ज्योतिषी नट, नर्त्तक।

श्री राम ने जब अश्वमेध यज्ञ किया तब भी नट नर्त्तक बढ़ई और काम करने वाले बुलाये गये:-

''तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तका:''

''कर्मान्तिकान् वर्धकिन:''

उत्तर कांड सर्ग ९१ श्लोक १५ और २४ के टुकड़े।

''कथयन्त: कथा बह्वी: पश्यन्तो नटनर्त्तकान्''

सभापर्व अध्याय ३३ श्लोक ४९। इन प्रमाणों से हमें अश्वमेध का कुछ कुछ आभास हो सकता है। ये यज्ञ एक बड़े मेले के रूप में होते थे। पशु, पक्षी, सरीसुप, कीड़े मकौड़े सब की प्रदर्शनी होती थी।

यज्ञवेदी में ईंटें लगती थीं। आकाशस्थ गृहों के वेध चक्र बनते थे। खगोल भूगोल के मानचित्र आदि बनाए जाते थे। अत: रेखागणित, ज्योतिष का आविष्कार और विकास यज्ञों द्वारा हुआ। यज्ञों में शास्त्रार्थ भी चलते थे। वाल्मीकि रामायण और महाभारत में इस बात का उल्लेख है:-

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि।

प्राहु: सुवाग्मिनो धारा: परस्परजिगीषया।।

वा० कां० सर्ग १४ श्लोक १९

इन शास्त्रार्थों के द्वारा तर्क शास्त्र और दर्शन का विकास होता रहता था। काव्य-चर्चा, नाटक और नृत्य भी होते थे। इससे ललित कलाओं का विकास होता था। सबसे प्रथम नाटक ''अमृतमंथन'' असुरों पर इन्द्र की विजय के स्मारक रूप में इन्द्रयाग में ही खेला गया था। भरतनाट्य शास्त्र में इसकी चर्चा है।

अयं ध्वजमह: श्रीमान् महेन्द्रस्य प्रवर्त्तते।

अत्रेदानीमयं वेदो नाट्यसंज्ञ: प्रयुज्यताम्।।

पशु पक्षियों के स्वभावों का ज्ञान अर्थात् उनके 'देवताओं' का ज्ञान यज्ञों में किया जाता था। प्राणी शास्त्र, वनस्पति विज्ञान, कृषि के सूत्र यज्ञों द्वारा निर्णीत हुए। खनिज पदार्थ भी यज्ञ में लाये जाते थे, अत: भूगर्भविद्या का विकास भी यज्ञों से हुआ। यजुर्वेद को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता लगता है कि पृथिवी के नाना पदार्थों का ज्ञान यज्ञों में करना पड़ता था। ऋतु-सम्बन्धी जानकारी के बिना तो यज्ञ हो ही नहीं सकते थे। पदार्थों के गुण यज्ञों द्वारा जाने जाते थे। आयुर्वेद का काम भी यज्ञों में पड़ता था। जैसे आजकल की प्रदर्शिनयां ज्ञान बढ़ाने और उद्योग विकास के लिये होती हैं; इसी प्रकार यज्ञ भी देश की सर्व प्रकार की उन्नति के लिए हेतु रहते थे। यज्ञों में वीणा पर सामगायन होता था, अत: गायन कला का विकास भी यज्ञों से हुआ था। यज्ञों का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि आर्यों की सामाजिक स्थिति कितनी सुंदर और आमोदप्रद थी। आर्य संस्कृति और ज्ञान विज्ञान उच्च सीमा पर पहुँच चुका था। राम के यज्ञ में वाल्मीकि के शिष्य के रूप में उनके पुत्रों ने ही वीणा पर रामायण का गान किया था। यज्ञ केवल पारलौकिक धार्मिक विधिमात्र ही नहीं थे। धार्मिकत्व को केन्द्र बनाकर ऐहलौकिक उन्नति इन यज्ञों की परिधि थी। यज्ञों द्वारा दान से संपत्ति-वितरण कर आर्थिक संतुलन भी ठीक रखा जाता था। अत: राजा महाराजा सेठ साहूकारों के लिये यज्ञ करने आवश्यक थे।

यज्ञों द्वारा जहाँ प्रकृति को विकृत होने से रोका जाता था वहाँ समाज को भी स्वार्थपरता, असहयोग आदि से बचाकर सहयोग और उपकार की उदात्त शिक्षा दी जाती थी।

यज्ञों का समय निश्चित करने के लिये अच्छी ऋतु हो, दैवी उपद्रवों की आशंका न हो, यह सब जानने के लिये ग्रहों की ठीक-ठीक स्थिति और किस ग्रह का क्या-क्या प्रभाव वायु पर, मेघ पर और पृथिवी पर पड़ेगा यह सब जानना पड़ता था। ज्योतिर्विद्या के विकास के मूल कारण यज्ञ ही रहे थे। अश्वमेध में निर्बाध विचरने के लिये घोड़ा छोड़ा जाता था। यदि कोई उसे रोके तो उससे लड़ना होता था। अत: अश्वमेध करने को एक सुसज्जित सेना का होना आवश्यक था। अस्त्र-शस्त्रों के नये-नये आविष्कार यज्ञों की रक्षा के लिए होते रहते थे।

यज्ञों में अन्नाहुतियाँ भी होती थीं। अग्नि में गेहूँ आदि के पड़ने से उसकी सुगंधि और खिलने को देखकर उसकी उत्तमता, अधमता जानी जाती थी। पुन: अच्छे से अच्छे अनाजों के उत्पादन की विधियों पर विचार कर अन्नोत्पादन में वृद्धि की जाती थी। इसकी शिक्षा यजुर्वेद १८वें अध्याय में है।

'व्रीहयच' में यवाश्च में माषाश्च में तिलाश्च में मुद्राश्च में खल्वाश्च में प्रियङ्गवश्चमेऽणवश्च मे श्यामा-काश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। यजु० १८-१२

''मेरे उपर्युक्त अन्न यज्ञ से कल्पित हों, अर्थात् समर्थ हों, बढ़ें''। यज्ञ का अर्थ है संगतिकरण। वैज्ञानिक-संगति करण से अन्नों में बहुत विकास किया जा सकता है। अन्न फल फूल आकार में बड़े, गुणों में उत्तम, संख्या और परिमाण में अधिक किये जा सकते हैं। यजुर्वेद का यह पूरा २२वाँ अध्याय यही उपदेश दे रहा है कि यज्ञ द्वारा संगतिकरण द्वारा अन्न, पशु, आदि पदार्थ किस प्रकार बढ़ाये जा सकते हैं। इस अध्याय में राष्ट्रोपयोगी प्राय: सब ही पदार्थों का वर्णन है। यज्ञों में एकत्रित विद्वान् लोकहित, राष्ट्रहित, राजकल्याण, राष्ट्र के गुणदोष, अपने गुणदोष सब ही पर विचार करते थे। ये यज्ञ एक बड़े सम्मेलन होते थे। इनमें लौकिक पारलौकिक सब ही विषय विचारे जाते थे। यज्ञ का ही बिगड़ा रूप फारसी में ''जश्न'' है। ईरानी आर्य ''जश्न'' करते थे। जश्न केवल मनोरंजन का ही अर्थ रखता है। पर यज्ञ शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। जश्नों के समय आर्य लोग यज्ञ के महत्व को भूल गये थे। यज्ञ केवल देवताओं की पूजा मात्रार्थ में रह गये थे। धीरे-धीरे तो पशुबलि और कुर्बानी चल पड़ी। ज्ञान का स्थान अज्ञान ने ले लिया। यह सब वेद विद्या को भूल जाने का परिणाम था। आजकल फिर यज्ञों की प्रथा उमडी है। पर ये यज्ञ एक देशीय ही हैं। इनमें वह महत्व नहीं रहा जो आर्य यज्ञों में था। आर्य यज्ञों के द्वारा आर्य संस्कृति, विद्या, कला कौशल सब की चरमोन्नति हुई। उसी रूप में-राष्ट्रिय सम्मेलन और प्रदर्शनियों के रूप में यदि यज्ञ होने लगें तो इनका वास्तविक उपयोग हो सकता है। ये लाभदायी सिद्ध हो सकते हैं।

पृष्ठ 2 का शेष-इहैव सन्तेऽथ विद्मस्तद्वयं

मुपसं हरति।। बृहद. उप. 4.43

जैसे तृण जलामुका (सुंडी) तिनके के अन्त पर पहुंच कर दूसरे तिनकों के सहारे के तौर पर पकड़ कर अपने आप को परे फेंक कर अविद्या को दूर कर दूसरे शरीर रूपी तिनके का सहारा लेकर अपने आपको इस शरीर से खींच लेता है। इसे नया सुन्दर शरीर प्राप्त हो जाता है। आत्मा के शरीर से निकालने के बाद ही शरीर में विकार पैदा होने लगता है। कुछ समय उपरान्त ही वह सड़ने लगता है। पर्यावरण दूषित न हो इसलिए उसे जला दिया जाता है। कुछ लोग उसे जमीन में गाढ़ देते हैं और पारसी लोग उसे चील आदि पक्षियों के खाने के लिए मृत्यु के कुएं पर रख देते हैं। मृत्यु के बाद आत्मा का इस शरीर से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है।

ऋग्वेद 10.16.7 में मृत शरीर को जलाने के लिए कहा गया है।

अत: यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम इस जीवन में ही आत्मा के स्वरूप को ठीक तरह से जान कर मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होवें।

अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस पर आर्य समाज बठिंडा के सदस्यों ने सिखे योगासन

आर्य समाज बठिंडा में अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस पर आर्य समाज के सदस्य एवं गणमान्य व्यक्ति योग करते हुये।

आर्य समाज बठिंडा के प्रधान श्री अश्विनी मोंगा जी के नेतृत्व में दिनांक 21 जून 2023 को प्रात: 6.00 बजे से 7.00 बजे तक आर्य समाज बठिंडा, आर्य माडल सीनियर सैकेंडरी स्कूल बठिंडा के प्रांगण में नगर की प्रमुख संस्थाओं द्वारा सामूहिक रूप में अंतर्राष्ट्रीय योग दिवस का आयोजन किया गया। जिनमें निम्नलिखित संस्थाएं सम्मिलित हुई। आर्य समाज बठिंडा, आर्य माडल सीनियर सैकेंडरी स्कूल बठिंडा, भारत विकास परिषद बठिंडा, बनवासी कल्याण आश्रम बठिंडा, सीनियर सिटिजन ब्रदरहुड बठिंडा ने इसमें भाग लिया। इसमें कुल 125 लोगों ने भाग लिया जिनमें 73 पुरुष और 52 महिलाएं उपस्थित रहीं। श्री ओम पाल योग विशेषज्ञ द्वारा सुन्दर एवं सरल ढंग से सूर्य नमस्कार, पद्मासन एवं प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं का प्रशिक्षण दिया गया। प्रो. अशोक गुप्ता स्टेट एडवाइजर/ संरक्षक भारत विकास परिषद एवं अध्यक्ष सीनियर सिटिजन ब्रहदरहुड ने सभी का हार्दिक अभिनन्दन करते हुये योग के इतिहास एवं महत्ता से अवगत कराया। भूषण देव गोयल अध्यक्ष गीता परिवार ने श्रीमद्भगवत गीता में वर्णित योग की महत्ता के बारे में बताया। बठिंडा विकास मंच के राकेश नरूला ने विशेष रूप से भाग लिया।

आर्य समाज के प्रधान श्री अश्विनी मोंगा जी ने भाग लेने वाली सभी संस्थाओं का धन्यवाद किया और योग को अपनी दिनचर्या का अंग बनाने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति सदा सुख आनन्द का अभिलाषी रहता है। लोक में रहते हुए अनेक रूपों तथा अवस्थाओं में सुख का अनुभव होता है, किन्तु सांसारिक साधनों से प्राप्त सुख में कहीं न कहीं दुख का मिश्रण बना रहता है। सांसारिक साधनों के द्वारा स्थायी सुख को प्राप्त नहीं किया जा सकता। भौतिक पदार्थ नाशवान हैं। नष्ट होने वाले पदार्थों से हम शाश्वत और चिरस्थायी सुख की कामना नहीं कर सकते। अगर कामना करते हैं तो यह हमारा अज्ञान है। भौतिक साधनों के द्वारा प्राप्त होने वाले सुख को आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा चिरस्थायी बनाया जा सकता है। शरीर से सम्बन्धित होने के कारण उस सुख में स्थायित्व और निरन्तरता नहीं रहती। एक दु:ख के छूट जाने पर दूसरे दु:ख घेर लेते हैं और यही क्रम जीवन भर चलता रहता है।

उन्होंने आगे कहा कि योग के द्वारा व्यक्ति को अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य का ज्ञान होता है। देश के बहुत सारे लोगों ने मुक्तकंठ से योग की महत्ता को स्वीकार किया है। योग किसी मत, मजहब और सम्प्रदाय से सम्बन्धित नहीं है। योग का उद्देश्य स्वस्थ और सुन्दर जीवन शैली का निर्माण करना है। जिसमें व्यक्ति तनावमुक्त होकर जीवन का आनन्द उठा सके। सांसारिक सुखों को उपभोग करता हुआ मनुष्य शान्ति तथा आनन्द को प्राप्त करे। योग के द्वारा ही व्यक्ति इस प्रकार का तनावमुक्त जीवन जी सकता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इसी योग की पद्धति के द्वारा दीर्घायु जीवन व्यतीत करते थे। कार्यक्रम की समाप्ति पर अल्पाहार वितरित किया गया। सभी ने मिल कर इसका आनन्द लिया। इस कार्यक्रम में श्री विजय कांसल स्टेट एडवाइजर, राकेश गर्ग, श्री गौरी शंकर, श्री सुरेन्द्र गर्ग सचिव आर्य समाज, देवेन्द्र बांसल, श्री रत्न गर्ग, श्री मदन गोपाल जिन्दल, रमेश वधवा वित्त सचिव, प्रिंसीपल विपिन गर्ग, श्री विनोद गोयल, श्री अनिल गोयल ने विशेष योगदान दिया। मंच संचालन का कार्य श्री रमेश पसरीचा जी ने बखूबी निभाया। मक्खन लाल, रमेश गर्ग, प्रिंसीपल एम.आर. मित्तल, अमृत लाल खुराना, पी.एन. गर्ग, प्रिंसीपल शांति जिन्दल, सुशील गुप्ता, दीपिका बांसल, विमला वधवा, सुरेन्द्र पांडेय, एवं स्कूल का स्टाफ विशेष रूप से उपस्थित रहा।

अश्विनी मोंगा प्रधान आर्य समाज

आर्य महासम्मेलन की तैयारियों एवं वेद प्रचार तेज करने पर विचार

आर्य समाज वेद मंदिर भार्गव नगर जालन्धर में आर्य समाजों के अधिकारियों की एक बैठक का आयोजन किया गया जिसमें वेद प्रचार तेज करने एवं सभा के तत्वावधान में होने वाले आर्य महासम्मेलन की तैयारियों पर गहनता से विचार किया गया।

आर्य समाज वेद मंदिर भार्गव नगर जालन्धर में 18 जून 2023 को आर्य समाजों के अधिकारियों की एक बैठक का आयोजन किया गया जिसमें आर्य समाजों में वेद प्रचार तेज करने एवं सभा के तत्वावधान में होने वाले आर्य महासम्मेलन की तैयारियों पर गहनता से विचार विमर्श किया गया। इस बैठक की अध्यक्षता आर्य समाज वेद मंदिर भार्गव नगर जालन्धर के प्रधान श्री कमल किशोर आर्य एवं श्री सुदेश कुमार कोषाध्यक्ष आर्य समाज वेद मंदिर भार्गव नगर एवं मंत्री आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने की इस बैठक में बंद पड़ी आर्य समाजों को खुलवाने एवं वेद प्रचार करवाने पर भी गहनता से विचार हुआ। इस बैठक में कई सदस्यों ने अपने अपने विचार प्रस्तुत किये। श्री कमल किशोर आर्य एवं श्री सुदेश कुमार जी की देख रेख में एक कमेटी का भी गठन किया गया। बैठक में आर्य समाज भार्गव नगर, आर्य समाज बस्ती दानिशमंदा, आर्य समाज बस्ती बाबा खेल, आर्य समाज आर्य नगर, आर्य समाज गांधी नगर-1 जालन्धर, आर्य समाज संत नगर एवं अन्य कई आर्य समाजों के अधिकारी एवं सदस्य सम्मिलित हुये।

स्वामिनी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की तरफ से मुद्रक, प्रकाशक, सम्पादक प्रेम भारद्वाज द्वारा गायत्री प्रिंटिंग प्रैस, मण्डी रोड जालन्धर पंजाब से मुद्रित एवं गुरुदत्त भवन, चौक किशनपुरा, जालन्धर से प्रकाशित। सम्पादक-प्रेम भारद्वाज
पीआरबी एक्ट के तहत प्रकाशित सामग्री के चयन हेतु उत्तरदायी किसी विवाद का न्यायिक क्षेत्र जालन्धर होगा। आर एन आई संख्या 26281/74 **E-mail: apspunjab2010@gmail.com, www.aryapratinidhisabha.org**